है। उन्होंने ललकार कर किन्तु प्यार से पूछा कि भाई दो कहाँ से आ गये। जो तुम लोग दो कहते हो, बीच में ही भ्रम का भेद लगाते हो। हे मूर्खों चेत जाओ, बोलने वाला (आत्मा) हिन्दू और तुर्क नहीं है–

**कहै कबीर चेतहु रे भौंदू। बोलन हारा तुरक न हिन्दू।**

कबीर ने सामाजिक विषमता पर प्रहार करने के बाद सामाजिक शोषण के अस्त्रों को कुंठित करना आवश्यक समझा। पुरोहितों, पंडितों तथा मुल्लाओं के लिए धार्मिक आधार पर समाज के शोषण का सबसे बड़ा साधन था पुरतकीय ज्ञान और धर्म साधना के विधि-विधान। वेद, कतेब, पुराण, शास्त्र आदि का ज्ञान कुछ व्यक्तियों, या वर्गों के पास सीमित होता है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों की उच्चता का एक प्रमुख मापदंड उनका वेद-शास्त्र में पारंगत होना है। परम्परया वेद-शास्त्र के अध्ययन से अधिकांश जनता संसाधनों के अभाव के कारण वंचित थी। शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए तो वेद का अध्ययन लगभग वर्जित ही था। सामान्य रूप से अन्त्यजों तथा स्त्रियों की शिक्षा-व्यवस्था पूरे मध्यकाल में चौपट ही थी। जो ब्राह्मण पुरोहित कर्म में लगा हुआ था, वह वेद-शास्त्र का बहुत बड़ा पंडित न होते हुए भी पूजा-पाठ आदि के विधि-विधानों तथा मंत्रों का ज्ञाता तो था ही, एक शूद्र चाहकर भी धार्मिक कृत्यों को ब्राह्मणों के द्वारा करा पाने में असमर्थ रहता था। न तो वह सही ढंग से भूसुर की सेवा कर सकता था और न तो प्रभूत मात्रा में दक्षिणा आदि की व्यवस्था कर सकता था। सारे तर्कों के बावजूद शूद्रों में इस दृष्टि से हीनता भाव बना रह गया था। कबीर ने शास्त्रीय ज्ञान के महत्त्व को इसीलिए नकार दिया। पोथी पढ़ने वाला उनकी दृष्टि से पंडित नहीं था, बल्कि 'राम' का नाम प्रेम से पढ़ने वाला पंडित था।

कबीरदास बाह्याडम्बरों के पीछे भी इसीलिए हाथ धोकर पड़ गये। उन्हें छः दर्शन में छ्यानबे पाखंड दिखाई देते थे। उनके विचार से जप, तप, संयम, पूजा, अर्चा और ज्योतिष में ही जग पागल हुआ बैठा है। कागज लिख लिखकर अपने को भ्रमित किए है। जो लोग मूँड मुड़ाकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं या कान में मंजूषा पहन लेते हैं, शरीर में भस्म लपेट

Scanned with CamScanner

दिया, इस तरह हम देखते हैं कि कबीर हर कोण से वर्ण-व्यवस्था की खिलाफत करते नजर आते हैं। ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता किसी भी तरह से अवशिष्ट न रहे इसलिये वेद-पुराण, तीर्थ, दान, मंदिर आदि की निन्दा करते हैं। समाज में व्याप्त छुआछूत, ऊँच-नीच की घातक बुराइयों को समूल नष्ट करने का जो अदम्य साहस कबीर में परिलक्षित होता है, और वे जिस उत्साह से अपने प्राण की परवाह न करके धर्म की भित्ति पर टिकी हुई व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाते हैं उनसे उन्हें दीन-दुनिया से निरपेक्ष भक्त सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कबीर अपने समय के समाज के अन्य पक्षों को भी उजागर करते हैं। जिस तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टि से आज हम अपने रीति-रिवाजों की सार्थकता एवं औचित्य की परख करते हैं ठीक उसी दृष्टि से कबीर ने पारिवारिक सम्बन्धों की औपचारिकताओं का भंडाफोड़ किया है। निर्धनता और दारिद्र्य में जीने वाले लोगों के लिए मृत्यु-भोज या श्राद्ध-भोज की अनिवार्यता कितनी कष्टसाध्य होती है। पुत्र का पिता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए उसके लिए भी समाज ने आदर्श निर्धारित कर रखे हैं। किन्तु व्यावहारिक धरातल पर आदर्श बराबर खंडित होते रहते हैं। जीवित पिता के प्रति पुत्र अपने व्यवहार में तब भी चूक करता था आज भी करता है किन्तु मरणोपरान्त तरह-तरह के लोकाचारों का पालन करता है। वेद और धर्म-ग्रंथ इन लोकाचारों को पूरा-पूरा समर्थन देते हैं। कबीर इस कृत्रिम और हास्यास्पद लोकाचार के विषय में कहते हैं–

**जीवत पित्रहिं मारहिं डंडा। मूंवां पित्र ले घालैं गंगा।।**
**जीवत पित्रकूं अन न ख्वांवें। मूवा पाछैं प्यंड भरावैं।।**
**जीवत पित्र कूं बोलैं अपंराध। मूंवा पीछें देंहि सराध।।**
**कहै कबीर मोहि अचिरज आवै। कउआ खाइ पित्र क्यूं पावै।।**

कबीर ने समाज की आर्थिक व्यवस्था, तथा सामन्ती शोषण का भी प्रकारान्तर से चित्रण किया है। कबीर का युग और युगबोध में इस तथ्य को विस्तार से वर्णित किया गया है। इसलिए उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। धन-सम्पत्ति की दीवार एक आदमी को दूसरे आदमी से अलग कर देती है। धन से अहंकार की भी वृद्धि होती है। तरह-तरह के सामाजिक अपराध के पीछे भी धन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इसी तरह मध्यकाल में सुन्दरियों के पीछे भी भयानक संघर्ष होते रहते थे। सामन्तों को भोगेच्छा की तृप्ति के लिए कामिनी और कंचन दोनों की आवश्यकता होती थी। कबीर को यह रहस्य बहुत गहराई से सूझ गया था। इसीलिए वे जीवन-पर्यन्त कामिनी और कंचन की खिलाफत करते रहे। उनकी इच्छा थी कि समाज में रहने वाले लोगों में पारस्परिक ईर्ष्या, बैर का अभाव हो। परस्पर प्रेम हो। हर काम करते हुए व्यक्ति निष्काम हो। पुत्र और परिवार के सुख और समृद्धि के लिए बुरे तथा पाप कर्म न किए जाएँ क्योंकि कर्मों का जो फल होगा उसका फल कर्त्ता को ही भोगना पड़ेगा, परिवार के लोग साथ नहीं देंगे–

**कुटंब कारणि पाप कमावै, तूं जाँणै घर मेरा।**
**ए सब मिले आप सवारथ, इहाँ नहीं को तेरा।।**

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण प्राचीन आश्रम व्यवस्था विशृंखल हो गयी थी। फलतः युवावस्था में ही बहुत से लोग संन्यास ग्रहण करने लगे थे। इस तरह साधुओं, संन्यासियों की निरर्थक भीड़ बढ़ती जा रही थी, जिनकी जीविका का बोझ मेहनतकस किसानों को धर्म भीरुता के कारण झेलना पड़ता था। कबीरदास ने संगठित साधुओं की

Scanned with CamScanner

जमात का विरोध किया और कर्महीन साधना का तिरस्कार किया। उनका विचार है कि यदि मन शुद्ध तथा निर्विकार है तो चाहे जहाँ रहकर भक्ति की जाय कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि वैराग्य ग्रहण किया है तो विरक्ति होनी चाहिए। भिक्षा की चिन्ता में ही यदि समय बिताना है तो वैराग्य निष्फल है। यदि कोई व्यक्ति गृहस्थ रहना चाहता है तो उसे अत्यधिक उदार होना चाहिए। यदि इसमें चूक होती है तो उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है–

**कबीर बैरागी विरकत भला, ग्रिही, चित्त उदार।**
**दुहुं चूकाँ रीता पड़ै, ताकूँ वरन पार।।**

अहंकारहीनता, करुणा, दया, प्रेम, परमार्थ, विनय आदि नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील कबीर के विचारों में एक श्रेष्ठ समाज की परिकल्पना निहित है। उन्होंने समाज में व्याप्त बुराइयों को बहुत नजदीक से देखा ही नहीं बल्कि अनुभव भी किया था। उनके सामाजिक दर्शन का मूल तत्त्व है कर्म और त्याग। अपने स्वत्व, अपने दर्शन और मान्य मूल्यों की रक्षा के लिए समाज के हर व्यक्ति को प्राणों की बाजी लगा देनी चाहिए। धर्म के क्षेत्र में पूर्ण अहिंसा के समर्थक होते हुए भी वे सती और सूरमा को आदर्श मानते हैं। अपने राष्ट्र और धर्म की रक्षा के लिए जूझने वाला वीर पुरुष तथा पति के साथ जल मरने वाली नारी में उन्हें ईश्वरीय आभा दिखाई देती है।

तत्कालीन सामाजिक संरचना युद्ध और संघर्ष के माहौल तथा धर्म प्रवण मानसिकता से कबीर की चिंतन दृष्टि प्रभावित है। इसीलिए अनेक तरह के परस्पर विरोधी कथन भी कबीर में मिल जाते हैं।

सम्पूर्ण विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि कबीर की आध्यात्मिक मुक्ति सामाजिक मुक्ति से एकदम अलग नहीं है। उनका परमात्म चिन्तन लोक चिन्तन की उपेक्षा नहीं करता। उनकी धार्मिक मान्यताएँ सामाजिक सन्दर्भों से निरपेक्ष नहीं हैं। उनके सामाजिक सुधार की मान्यताएँ आध्यात्मिक विचारों की परिधि में ही समाहित हैं। उन्होंने आध्यात्मिक साम्यता में ही सामाजिक साम्यवाद की परिकल्पना की है। भक्त होते हुए भी वे सामाजिक दायित्व का पूरा-पूरा निर्वाह करते हैं। वे ऐसे भक्त कवि हैं जिनके रचना कर्म का एक प्रमुख पक्ष है सामाजिक विषमता का उन्मूलन।

Scanned with CamScanner